Advanced International Journal for Research (AIJFR)
E-ISSN: 3048-7641 ● Website: www.aijfr.com ● Email: editor@aijfr.com

योगवासिष्ठ में ज्ञानयोग का दार्शनिक एवं साधनात्मक स्वरूप

डॉ कमल किशोर

असि प्रोफेसर, योग विज्ञान एवं मानव चेतना विभाग, देव संस्कृति विश्वविद्यालय, हरिद्वार

शोध सारांश

ज्ञानयोग तथ्यों तक पहुंचने का निश्चित मार्ग है। ज्ञान का शाब्दिक अर्थ होता है विद्या और विवेक। इस प्रकार ज्ञानयोग को विद्या और विवेक के योग के रूप में जाना जाता है। ज्ञान का तात्पर्य अन्तर्प्रज्ञा के प्रकाश से है। ज्ञानयोगी विशुद्ध बुद्धि के द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार कर अपना मार्ग प्रशस्त करता है। ज्ञान के बिना मोक्ष लाभ नहीं हो सकता है, वह तो इस उपलब्धि में निहित है कि यह यथार्थता क्या है और वह भय, जन्म–मृत्यु से परे है। आत्मा का साक्षात्कार ही सर्वोत्तम श्रेयस है।

महर्षि वशिष्ठ जी राम से कहते हैं कि इस जगत में आदि और अन्त से रहित प्रकाश स्वरूप परमात्मा ही है। इस प्रकार जो दृढ़ निश्चय है, उसी निश्चय को ज्ञानी महात्मागण 'सम्यक् ज्ञान' यानि परमात्मा के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान कहते हैं। तत्वज्ञान मनुष्य के अपने ही मन के दुःखों से छुटकारा पाना है जो उसे मोक्ष की ओर ले जाता है। आध्यात्मिकता की ओर की हुई चेष्टाओं के द्वारा मन ज्ञान स्वरूप हो जाता है परन्तु अज्ञान के द्वारा यह सांसारिक स्वभाव का हो जाता है। यदि मन को ज्ञान रूपी जल में स्नान कराया जाये और सारी मलीनता धो डाली जाये तो मोक्ष के लिए प्रयत्न करने वालों के लिए वह अपने स्वाभाविक तेज से प्रकाश करेगा।

इस मुक्ति में संकल्प से रहित, समस्त विषयों से रहित केवल चिन्मय परमात्मा ही सच्चिदानन्द रूप से विराजमान रहता है। उससे अन्य कुछ भी नहीं। इसलिए कहा है कि जब मन ज्ञान के द्वारा सारी कामनाओं से रहित होकर अपने सूक्ष्म रूप का भी नाश कर देता है, तब जो आनन्द उत्पन्न होता है वही सच्चा आनन्द है।

मुख्य बिन्दु –योगवासिष्ठ, ज्ञानयोग, साधन चतुष्टय

प्रस्तावना

भारतीय संस्कृति और दर्शन का मूल आधार आत्मा, ब्रह्म तथा जगत के रहस्यमय सम्बन्धों की खोज रहा है। वेद, उपनिषद, गीता और योग दर्शन ने इस खोज को विभिन्न आयामों में प्रतिपादित किया है। इन्ही में योगवासिष्ठ एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है, जो मानव जीवन की गहन समस्याओं जैसे – जन्म–मरण, सुख–दुःख, माया–मोह तथा मोक्ष का गूढ़ एवं समग्र समाधान प्रस्तुत करता है। इसे अद्वैत वेदांत की परम्परा का उत्कृष्ट ग्रन्थ माना गया है, जिसमें ज्ञानयोग को परम साधन के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है।

योगवासष्ठि के संवाद के रूप में ऋषि वसिष्ठ और भगवान श्रीराम के बीच का विवेचन आत्मज्ञान की साधना के व्यावहारिक और दार्शनिक पहलुओं को स्पष्ट करता है, इसमें साधन चतुष्टय एवं ध्यान, समाधि और आत्मबोध जैसी साधनाओं का विस्तृत विवेचन किया गया है। ज्ञानयोग का उद्देश्य मनुष्य को अज्ञान और दुःख से मुक्त कर आत्मा की वास्तविकता का बोध कराना। योगवासिष्ठ में वर्णित किया गया है कि अज्ञान ही बन्धन का कारण है और ज्ञान ही मुक्ति का साधन। ज्ञानयोग के मार्ग को अपनाकर ही सांसारिक व्यामोह से मुक्त हुआ जा सकेगा।

ज्ञानयोग का अर्थ एवं दार्शनिक स्वरूप –

ज्ञान का शाब्दिक अर्थ होता है विद्या और विवेक। इस प्रकार ज्ञानयोग को विद्या और विवेक के योग के रूप में जाना जाता है। ज्ञान का तात्पर्य अन्तर्प्रज्ञा के प्रकाश से है। **योगवासिष्ठ** में ज्ञानयोग के महत्व को प्रकट करते हुए वशिष्ठ जी राम से कहते हैं कि ज्ञान से मनुष्य दुःख के अभाव को प्राप्त होता है। ज्ञान से अज्ञान का विनाश हो जाता है। ज्ञान से ही परमात्मा की

प्राप्ति रूप परम सिद्धि मिलती है, ज्ञान के बिना नहीं मिलती। इसलिए मनुष्य को ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए। ज्ञानयोग अज्ञान के आवरण को हटा देता है और सूर्यवत् तेजोमय परमात्म के स्वरूप को प्रकाशित कर देता है। ज्ञानमार्ग के द्वारा सर्वोच्च अवस्था की प्राप्ति के मार्ग को ज्ञानयोग कहते हैं। ज्ञानयोग के अनुसार जीव ब्रह्म की एकता का ज्ञान हो जाना ही मोक्ष है। दूसरे शब्दों में आनन्ददायक ब्रह्म की प्राप्ति और शोक से निवृत्ति ही मोक्ष है। ज्ञानयोग के अनुसार यह तभी संभव है जबकि जीव और ब्रह्म की एकता सिद्ध हो जाती है। ज्ञानयोग के उत्तम कोटि के साधकों की तो श्रुति वाक्य सुनने मात्र से हृदय ग्रन्थि खुल जाती है तथा जीव और ब्रह्म का भेद समाप्त हो जाता है। जीव तो अज्ञानवश अपने को जीव मानता है। वास्तव में वह ब्रह्म ही है और ब्रह्म को जानने पर ब्रह्म ही हो जाता है।

ज्ञानयोग की व्यावहारिक अवधारणा –

ज्ञानयोग का साधक शास्त्रों के अनुसार कर्म करता है। वह सारे कर्म निष्काम भाव से करता है। उसके सारे कर्म ज्ञान रूपी अग्नि से भस्म हो जाते हैं। वह कर्म करता हुआ भी निष्काम भावना के कारण अकर्ता के रूप में रहता है, जो कुछ मिल जाय उससे ही सन्तुष्ट रहता है। वह किसी से न ईर्ष्या करता है न द्वेष। वह जो कुछ कर्म करता है उसे ईश्वरर्पित कर देता है। न केवल कर्म को ही ईश्वरार्पित करता है अपितु कर्मफल को भी ईश्वरार्पित कर देता है। इस प्रकार कह सकते हैं कि ज्ञान में अमृत की प्राप्ति होती है। कर्मों की अपवित्रता का नाश होता है और व्यक्ति सदा के लिए ईश्वरमय हो जाता है। ज्ञानयोग के बारे में कहा है कि जो ज्ञाता है वह हमारे सब भक्तों में श्रेष्ठ है, जो हमें जानता है वह हमारी आराधना भी करता है। आसक्ति से रहित ज्ञान में स्थिर हुए चित्त वाले यज्ञ आचरण करते हुए सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं। इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला निःसन्देह कुछ भी नहीं है।

ज्ञानयोग की साधना का उद्देश्य –

गीता में इस प्रकार उल्लेख हुआ है कि ज्ञान रूपी नौका का आश्रय लेकर मनुष्य सारे पापों को धोकर संसार सागर से पार हो जाता है। जिस प्रकार अग्नि में पड़कर जैसे सब समिधाएं जलकर स्वाहा हो जाती हैं उसी प्रकार ज्ञानरूपी अग्नि सारे कर्मों को जलाकर भस्म कर देती है। ज्ञान के तुल्य और पवित्र कर्म नहीं है।

योगवासिष्ठ में कहा है कि जिसने जानने योग्य को जान लिया और विवेक दृष्टि प्राप्त कर ली, उस ज्ञानी व्यक्ति को कष्ट (शरीर और मन के) उसी प्रकार नहीं दुखी कर पाते जिस प्रकार वर्षा से भीगे जंगल को अग्नि नहीं जला पाती। विवेकपूर्वक परमात्मविषयक विचार से उत्पन्न परमात्म स्वरूप के अनुभव को ही ज्ञान कहते हैं। अतः ब्रह्म भाव की स्थिति ही मोक्ष है। जीवित अवस्था में यह स्थिति प्राप्त होने पर जीवन मुक्ति की अवस्था कहलाती है और शरीर के छूटने पर विदेह मुक्ति कही जाती है। वेदान्त के अनुसार यह मोक्ष ज्ञान से ही संभव है। ब्रह्म भाव की स्थिति को प्राप्त करना ही ज्ञानयोग की साधना का लक्ष्य है।

ज्ञानयोग की साधना विभिन्न आयाम –

बहिरंग साधन –

ज्ञानयोग की साधना की प्रारम्भिक अवस्था में साधक को जिन बातों का पालन करना आवश्यक है, उन्हीं को बहिरंग साधना का नाम दिया गया है। बहिरंग साधना चार हैं जिन्हें **साधन चतुष्टय** का नाम दिया गया है। इनका पालन करने पर साधक सच्चा जिज्ञासु होता है। ये साधन निम्नलिखित हैं –1.विवेक, 2.वैराग्य, 3.षट्सम्पत्ति, 4.मुमुक्षत्व।

1. विवेक –

विवेक मानव चेतना की पूर्ण जागृत अवस्था है। विवेक के अंकुरण से मानव चेतना अपनी श्रेष्ठतम अवस्था में पहुंच जाती है। विवेक दिव्य है, शुद्ध चैतन्यता है, यहां केवल प्रकाश है, यहां पर कोई संघर्ष नहीं है। बस, शुभ का, सत् का, सौन्दर्य का सहज प्रवाह है। नित्य वस्तु को नित्य और अनित्य वस्तु को अनित्य समझना ही **'नित्यानित्यः वस्तु विवेक'** है। इसके द्वारा यह जाना जाता है कि ब्रह्म ही नित्य है, उसके अतिरिक्त सभी वस्तुएं अनित्य हैं। विवेक पूर्वक परमात्म विषयक विचार से उत्पन्न परमात्म स्वरूप के अनुभव को ही ज्ञान कहते हैं। जब सत् और असत् पदार्थों में विवेक करने लगेंगे कि ब्रह्म सत् है, जगत

असत्, यही विवेक है। फिर श्रद्धा बढ़ेगी और ईश्वर प्राप्ति के लिए दृढ़ इच्छा उत्पन्न होगी। इस प्रकार से सत्य वस्तु ब्रह्म तत्व का निश्चय कर लेना विवेक है।

2. वैराग्य –

समस्त संसार में जो भोग विलास के पदार्थ हैं और परलोक के निमित्त स्वर्गादि की प्राप्ति के लिए जो यज्ञादि कर्म किये जाते हैं उन कर्मफलों से सर्वथा विमुख हो जाना वैराग्य कहलाता है। **योगवासिष्ठ** में महर्षि वशिष्ठ जी राम के पूछे गये प्रश्नों के उत्तर में बताते हैं कि समस्त सांसारिक वासनाएं वैराग्य की वासना से ही नष्ट हो सकती हैं। यह विवेक वैराग्य के बोध से ही प्राप्त होता है। अतएव इहलौकिक तथा परलौकिक भोगों से उपराग या वीतराग का हो जाना ही वैराग्य है। इस वैराग्य के बिना साधक योग मार्ग में आगे नहीं बढ़ पाता। यह ज्ञानयोग की साधना का एक सबल अंग है।

3. षट्सम्पत्ति –

ज्ञानयोग की साधना में साधक को छः बातों का पालन करना अनिवार्य बताया गया है। इनको साधक की सम्पत्ति माना जाता है। इन्हीं के सहारे साधक साधना मार्ग में प्रवेश कर पाता है, ये षट्सम्पत्तियाँ निम्न हैं –

1) शम, 2) दम, 3) तितिक्षा, 4) उपरति, 5) श्रद्धा, 6) समाधान।

(1) शम –

इन्द्रियों को विषयों से रोककर संयमित करना आत्मा में चित्त को लगाना यह शम कहलाता है। निश्चय ही यह मन बड़ा ही चंचल है परन्तु अभ्यास और वैराग्य के द्वारा उसे वश में किया जा सकता है। इसमें किंचित मात्र सन्देह नहीं। अतः मन को वश में इस प्रकार से निग्रह कर लेना ही शम है।

(2) दम –

दम का अर्थ है दमन करना। वाह्य इन्द्रियों का निग्रह करने का नाम दम है। अर्थात् आंख, कान और इन्द्रियों को विषयों से हटा लेना दम कहलाता है। अनुचित कार्यों या दुश्चरितों अथवा गिराने वाले विषयों में भागी जाने वाली इन्द्रियों को पुरूष बड़े यत्न से नियंत्रण कर लेता है। जैसे सूक्ष्म सारथी लगाम को खींचकर घोड़ों पर काबू पा लेता है अर्थात् घोड़ों को विपरीत मार्ग पर जाने नहीं देता अपितु गन्तव्य मार्ग पर लगाता है। उसी प्रकार अध्यात्म मार्ग के पथिक अनुचित विषयों में प्रभावित इन्द्रिय को निग्रह करके ब्रह्म चिन्तन में लगाये रखता है। इसी को दम कहा जाता है।

(3) तितिक्षा –

समस्त द्वन्द्वों को सहन करते हुए अपने ध्येय या लक्ष्य वस्तु की प्राप्ति के लिए साधना में डटे रहने का नाम तितिक्षा है। मान–अपमान, सुख–दुःख, शीत–उष्ण को सहन करना अर्थात् सभी अवस्थाओं में चित्त को समान बनाये रखना तितिक्षा कहलाता है। तितिक्षा का दूसरा नाम तप है। **तपो द्वन्द्व सहनम्।** अर्थात् सर्दी–गर्मी, भूख–प्यास आदि द्वन्द्वों को सहन कर लेना तप है। खड़े होकर तपस्या करना, बिल्कुल न बोलना चन्द्रायणव्रत अनुष्ठान करना तप या तितिक्षा है।

(4) उपरति –

उपरति का तात्पर्य है कि उपराम हो जाना, विरति हो जाना। कर्मफल को त्यागकर अनासक्त भाव से कर्म करते हुए उन्हें ब्रह्म में केन्द्रित करना ही उपरति कहलाता है।

(5) श्रद्धा –

गुरूवाक्य और शास्त्रवाक्य में विश्वास रखना श्रद्धा कहलाता है। अपने गुरू और शास्त्रों के वाक्यों में जो दृढ़ विश्वास है, आस्था है, उसको ही श्रद्धा कहते हैं। जिसे वेद वचन तथा गुरू वाक्यों में संशय हो वहाँ भला कैसे आशा की जा सकती है कि वह ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके मोक्ष का भागी बन सकेगा। इसलिए कहा है कि **संशयात्मा विनश्यति** अर्थात् जो संशयात्मा है उसका उत्थान तो नहीं होता किन्तु पतन अवश्य हो जाता है। अतः योगी को संशय रहित निश्चयात्मक होना परम आवश्यक है। क्योंकि वही उत्थान का हेतु होता है और इसी का नाम श्रद्धा है।

(6) समाधान –

चित्त की एकाग्रता का नाम समाधान है। चित्त को सदा ही ब्रह्म में स्थिर किये रखना ही समाधान है। चित्त की इच्छापूर्ति का नाम समाधान नहीं है। अतः चित्त के मलों का परिमार्जन करके विशुद्ध चित्त से ब्रह्म चिन्तन यानी ब्रह्म ध्यान का अभ्यास करने से शीघ्र ही समस्त उपद्रव शान्त होकर ब्रह्म आनन्द का अनुभव साधक को होने लगता है। इसी को समाधान कहते हैं। शुद्ध–बुद्ध परम ब्रह्म में तत्पर होना तथा गुरू की सेवा करना समाधान कहलाता है। उपरोक्त छः बातों के पालन करने से साधक योग मार्ग में दिनों दिन उन्नति करता रहता है।

4. मुमुक्षुत्व –

अज्ञान के कारण जीव को जो बंधन अनुभव हो रहा है, उस बंधन से मुक्त होने की इच्छा को ही मुमुक्षुत्व कहते हैं अर्थात् मोक्ष की इच्छा। **योगवासिष्ठ** में कहा है कि जब जीव इस जड़ के साथ अपना तादात्म्य मानकर इनको अपना स्वरूप समझ बैठता है, यही इसका संसार बंधन है और जब यह अपने को चिन्मय समझता है, तब यह परमात्मा स्वरूप ही हो जाता है। यही इसका मोक्ष है। और इस ज्ञान का उदय होने पर ही मोक्ष की इच्छा उत्पन्न होती है।

इस प्रकार विवेक से वैराग्य तथा वैराग्य से मोक्ष की इच्छा और ब्रह्म की जिज्ञासा होती है।

अन्तरंग साधन –

ज्ञानयोग की साधना में अंतरंग साधनों की संख्या भी चार बतायी गयी है– 1. श्रवण, 2. मनन, 3. निदिध्यासन, 4. समाधि।

1. श्रवण –

सम्पूर्ण वेदान्त वाक्यों का एक ही ब्रह्म में तात्पर्य समझना श्रवण कहलाता है। इसके अन्तर्गत शिष्य–गुरू के पास जाकर अहं ब्रह्मास्मि तत्वमसि, अयमात्माब्रह्म आदि श्रुति वाक्यों को सुनाता है। **योगवासिष्ठ** के अनुसार सबसे पहले शास्त्र और सज्जनों की संगति से अपनी बुद्धि शुद्ध और तीक्ष्ण करनी चाहिए, यही श्रवण है।

2. मनन –

योगवासिष्ठ में कहा है कि सच्चिदानन्द ब्रह्म के स्वरूप का निरन्तर चिन्तन करना मनन है। इसके पश्चात् इन वाक्यों का तात्पर्य समझकर वेदान्त के अनुकूल युक्तियों द्वारा अद्वितीय ब्रह्म का चिन्तन करना मनन है। गुरू के मुख से ब्रह्म के विषय में श्रवण किया हुआ विषय को अपने अन्तःकरण में ठीक–ठीक रूप में बिठा लेना या निश्चय कर लेना मनन कहलाता है।

3. निदिध्यासन –

मनन के पश्चात् शरीर से लेकर बुद्धि पर्यन्त जितने भी विभिन्न जड़ पदार्थ हैं, उनमें भिन्नत्व की भावना को हटाकर सबमें एक मात्र ब्रह्म विषयक चित्त की एकाग्रता को निदिध्यासन कहते हैं। **योगवासिष्ठ** में कहा है कि संसार के संग से रहित होकर परमात्मा के ध्यान में स्थित रहना निदिध्यासन है।

4. समाधि –

ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद मिटाकर एक ही ब्रह्म में चित्त की वृत्तियों को एकाकार करना समाधि कहलाता है। इन चारों साधनों के पालन से साधक अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।

ज्ञान की सप्त भूमिकायें –

योगवासिष्ठ में ज्ञानयोग की सात भूमिकाएं बतलायी गयी हैं। सप्तपदा अज्ञान भूमि का वर्णन करके वशिष्ठ जी ने राम को बतलाया है कि उसे पार करने का उपाय आत्मज्ञान है। वह ज्ञान सप्तभूमिका है–

1. शुभेच्छा –

पहली ज्ञानभूमि का नाम शुभेच्छा है। जब जीव अपने को मूढ़ समझकर शास्त्राध्ययन एवं शास्त्रज्ञ सज्जनों तथा गुरू की संगति से वैराग्यपूर्वक ज्ञान प्राप्ति की इच्छा करता है तब उस अवस्था को शुभेच्छा कहते हैं। 'सात्विक श्रद्धा' इसी भूमिका की द्योतक है। इस दशा में अपने को मूढ़ समझने वाला जिज्ञासु जन तत्वदर्शी–ज्ञानी से परमार्थ के स्वरूप को जानने की अभिलाषा

करता है। **स्वामी विज्ञानानन्द जी** कहते हैं कि आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक आदि दु:खों से संसार के प्राणी सन्तप्त हैं। इसलिए जीव को जब यह ज्ञान हो जाता है कि संसार अनित्य क्षणभंगुर और दु:खमय है तब उसको संसार से वैराग्य उदय हो जाता है तथा सत्संगति तथा शास्त्रचर्चा की इच्छा होती है। इसी अवस्था का नाम शुभेच्छा है।

2. विचारणा –

योगवासिष्ठ के अनुसार शास्त्र श्रवण एवं सज्जनों के सम्पर्क से वैराग्य और अभ्यासपूर्वक सदाचार में जो प्रवृत्ति होती है उसे विचारणा कहते हैं। यह सत्य है कि दु:ख है इनके कम होने (घटने) का उपाय क्या है। यह जानने के लिए जो साधक विचार करके गुरू एवं शास्त्र का वैराग्य एवं संयमपूर्वक अनुसरण करने का जो दृढ़ निश्चय कर लेता है, इसी विचार की दृढ़ता को ज्ञानयोग की दूसरी भूमिका विचारणा कहते हैं।

3. तनुमानसा –

योगवासिष्ठ के अनुसार शुभेच्छा और विचारणा के अभ्यास से ऐन्द्रिय विषयों में असक्त मन की (सविकल्प समाधिरूपा) सूक्ष्मता की अवस्था को तनुमानसा कहते हैं। इस भूमिका में साधक संसार के कार्य के प्रति सामान्य लगाव रखते हुए वैराग्य आदि साधनों का पालन करते हुए साधन में दृढ़ हो जाता है। शुभेच्छा और विचारणा के कारण उसके मन की सांसारिक वासनायें धीरे–धीरे क्षीण होने लगती हैं। अतः उसका मन सांसारिक आसक्ति से ऊपर उठने लगता है। अर्थात् उसका मानसिक लगाव कम हो जाता है। साधना में अधिक मन लगने लगता है। इससे इन्द्रियों के भोग में जो (उपरमता) शान्ति आती है, इसी मानसिक अवस्था को ज्ञान की तीसरी भूमिका 'तनुमानसा' कहते हैं।

4. सत्वापत्ति –

योगवासिष्ठ में बताया गया है कि जब उक्त तीन भूमिकाओं के अभ्यास के द्वारा जीव वाह्य विषयों के प्रति पूर्णतया विरक्त चित्त परमात्म सत्वात्मक होकर शुद्ध सत्य आत्मा में स्थित हो जाता है। उस अवस्था का नाम 'सत्वापत्ति' है। यह निर्विकल्प समाधि रूप है। वाह्य विषयों से पूर्ण विरति को ही तुलसी ने विमल विराग कहा है। विचार और दम उसके साधक हैं। 'मुदिता' से परमात्म सत्वात्मकता सूचित होती है। 'सत्य' की रज्जु सत्यात्म निष्ठता की दृढ़ता व्यक्त करती है। यह अवस्था अज्ञानादि प्रपंच एवं अविद्या की अधिकारिणी है। इस भूमिका में स्थित होकर योगी जगत् को स्वप्नवत् देखता है। अतएव इसको स्वप्न कहते हैं। इस प्रकार पूर्व तीनों भूमिकाओं के दीर्घ अभ्यास से साधक ज्ञानयोग की चौथी अवस्था में अर्थात् सत्वापत्ति में स्थिर हो जाता है। इस अवस्था में साधक सतोगुण में पूर्णरूपेण युक्त हो जाता है। अतः चित्त में प्रज्ञा बुद्धि (ज्ञान बुद्धि) जाग्रत होने से आत्मा का स्वच्छ दर्शन करने लग जाता है। यही समाधि और कर्म का संयोग 'सत्वापति' नाम की चौथी स्थिति है अर्थात् योगी योग में स्थित होकर कर्म करने लग जाता है। निर्विकल्प ब्रह्मात्मत्यैम्य साक्षात्कार सत्वापत्ति।

5. असंसक्ति –

योगवासिष्ठ के अनुसार जब प्रथम चार भूमिकाओं के अभ्यास से पूर्णतया असक्त चित्त अविद्याजन्य संस्कारों के स्पर्श से रहित हो जाता है, शुद्ध संविन्मय निरतिशय आनन्द से युक्त आत्मतत्व में दृढ़ स्थिति प्राप्त हो जाती है उस अवस्था को असंसक्ति कहते हैं। योगाग्नि में शुभाशुभ कर्मों तथा ममता का जल जाना ही अविद्याजन्य संस्कारों का वास है। 'विसदघृत' शुद्ध संवित् एवं आत्मनिष्ठा का ज्ञापक है। इस भूमिका में द्वैताभास गल जाता है। इस पूर्ण निरासक्ति मानसिक स्थिति को ही ज्ञान की भूमिका असंसक्ति कहते हैं। इस अवस्था में भोगी का संसार भावपूर्ण विलीन हो जाता है और आत्मभाव ही स्थित रह जाता है। इस अवस्था में प्रपंच का अभाव थोड़े–थोड़े समय के लिए बार–बार होता है।

6. पदार्थ–भवनी –

छठी भूमिका पदार्थभवनी है। पूर्वोक्त पांचों भूमियों में परमात्मा की सत्ता एवं पदार्थों की असत्ता का बहुत समय तक भावन (अभ्यास) करते रहने से आत्मा में निश्चित स्थिति हो जाने पर जब अंतर एवं वाह्य पदार्थों के अभाव की दृढ़भावना हो जाती है, उव अवस्था को पदार्थाभवनी कहते हैं। यह साधक की तुरीयावस्था है। 'विज्ञानरूपिनी बुद्धि' तथा 'समता' से परमात्मा की सत्ता और पदार्थों की असत्ता की दृढ़ भावना व्यंजित होती है। इस प्रकार इस अवस्था में योगी के चित्त में पदार्थ (भाव)

सदैव के लिए पूर्ण रूपेण समाप्त हो जाता है। उसे चारों तरफ चैतन्य दिखाई देता है। माया के प्रपंच का विस्मरण हमेशा के लिए हो जाता है। ऐसी योगी माया के प्रभाव से मुक्त होकर सर्वत्र परमात्मा का अस्तित्व ही देखता है। ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या।

7. तुर्यगा –

सातवीं भूमिका 'तुर्यगा' है। प्रथम छः भूमिकाओं के द्वारा भेद का अनुपलंभ होने से आत्मा राम महात्मा की अपने स्वाभाविक स्वरूप में एक निष्ठता तुर्यगा कहलाती है। इस भूमिका में पहुंच जीव जीवितावस्था में ही, बंधनमुक्त हो जाता है। भेदभ्रम का नाश, 'सोहमस्मि' की अखण्ड वृत्ति 'अन्तिम अनुभव' तथा 'ग्रन्थि' मोक्ष इसी दशा के लक्षण हैं। यह अवेक्षणीय है कि सातवीं भूमिका भी छठी की ही भांति तुरीया एवं जीवन मुक्ति दशा है। भेद यह है कि उसमें पदार्थों के अभाव की भावना पर अधिक बल दिया गया था और इसमें स्व स्वरूपा व बोध या आत्मानुभव पर। इस प्रकार कह सकते हैं कि इस अवस्था के योगी का चित्त हमेशा के लिए परमात्मा में लीन होने के साथ–साथ अपने पूरे अस्तित्व को भी परमात्मा है, ऐसा समझने लगता है अर्थात् 'मैं या मुझमें और परमात्मा में कोई भेद नहीं है', मैं ही पूर्ण ब्रह्म हूँ अर्थात् **'अहम् ब्रह्मास्मि'** इसी प्रकार 'जानत तुमहि तुमहि होई जाई' अर्थात् परमात्मा को जानने से परमात्मा हो जाता है, यही तुरीयातीत भूमिका है।

योगवासिष्ठ के अनुसार बंधन और मुक्ति दोनों ही मिथ्या कल्पनाएं हैं। अतः मुक्ति को सातवीं भूमिका मानना ही संगत है। योगवासिष्ठ में जिसे 'विदेहमुक्ति' कहा है, उसकी व्यंजना तुलसी ने कैवल्य परमपद में की हुई है। वह कैवल्य परम पद अत्यन्त दुर्लभ है। इस सप्तभूमिक ज्ञान–योग का निर्वाह हो जाने पर ही उसकी प्राप्ति संभव है।

प्राण एवं मन –

प्राण और मन का सम्बन्ध आधार और आधेय का है। इन दोनों का सम्बन्ध ऐसा है जैसा सुगन्ध और फूल का। यदि दोनों में से एक भी नष्ट हो जाये तो दूसरे का अस्तित्व नहीं रहेगा। योगवासिष्ठ में उल्लेख किया है कि प्राण और मन का सम्बन्ध चित्त का ही बनाया हुआ है। मन ने ही प्राणों की कल्पना की है और इस बात की भी कल्पना है कि प्राण उसकी गति है। प्राण के बिना उसकी स्थिति नहीं है। इस कारण से ही वह प्राण के ऊपर निर्भर रहता है। मन जिसका अभ्यास कर लेता है उसी का अनुभव करता है। मन समझता है कि प्राण उसका जीवन है, इसलिए ही प्राण में मन की स्थिति है।

उपनिषदों में प्राण को ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ कहा है। सूक्ष्म प्राण के स्पन्दन से ही मन संकल्प या विचार शक्ति का अस्तित्व बना रहता है और विचार उत्पन्न होते हैं। प्राण पर नियंत्रण का अर्थ है मन पर भी नियंत्रण। प्राण की सहायता के बिना मन कार्य नहीं कर सकता। प्राण के स्पन्दन ही मन में विचार तरंगें उत्पन्न करते हैं। मन प्राण से क्रियाशील होता है। सूक्ष्म प्राण का मन से गहरा सम्बन्ध होता है। इसी प्राणशक्ति के ही कारण कुछ लोगों का व्यक्तित्व अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होता है। प्राण शक्ति की महत्ता के बारे में कहा गया है कि प्राण शक्ति के बिना सभी इन्द्रियां निष्क्रिय हो जाती हैं, मृत तुल्य हो जाती हैं। इन्द्रियों में कार्यक्षमता प्राण से ही प्राप्त होती है। यहां तक कि मन को रोकने के लिए योगाचार्य ने प्राण को रोकने का विधान किया है। प्राण को रोकने पर मन भी रूक जाता है।

महारामायण कथा प्रकरण में काकभुशुण्डि जी वशिष्ठ जी को बताते हैं कि मैनें प्राण समाधि के द्वारा परम शान्ति प्राप्त की। मैं किसी की स्तुति या निंदा नहीं करता, सुख की प्राप्ति होने पर मैं हर्षित नहीं होता, क्योंकि मेरा मन नित्य सम ही रहता है। हे मुनि श्रेष्ठ वशिष्ठ! मेरे मन की चंचलता शान्त हो चुकी है। मेरा मन शोक से रहित स्वस्थ समाहित शान्त हो चुका है। कहने का अभिप्राय है कि जो विज्ञजन प्राण तत्व को इस प्रकार जान लेते हैं उनकी प्रज्ञा (वंश) कभी विनाश को प्राप्त नहीं होती और वे अमृत्व को प्राप्त कर लेते हैं।

महर्षि पतंजलि कहते हैं कि प्राणवायु को बारम्बार बाहर निकालने व रोकने के अभ्यास से (चित्त निर्मल होता है) अर्थात् बारी–बारी से श्वास बाहर छोड़ने और रोकने से मन शान्त होता है। महर्षि पतंजलि ने अपने इस सूत्र में बड़ी अद्भुत बात कहते हैं। वे बताते हैं कि प्राण व मन का जोड़ गहरा है। कहीं गहरे में प्राण में मन घुला हुआ है, ठीक उसी प्रकार से प्राण भी मन में घुले हुए हैं। श्वास और विचार गहरे में एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। जब हमारे विचारों की गुणवत्ता में परिवर्तन आता है तो श्वास भी परिवर्तित हो जाती है। एकाग्रता और निरोध मन की दो अवस्थाएं हैं। स्पन्दन और निरोध प्राण की दो

अवस्थाएं हैं। जब मन एकाग्र हो जाता है तो प्राण की स्पन्दावस्था स्वयं ही हो जाती है। यदि शुद्ध सत्वगुण के द्वारा मन को निर्मल कर लिया जाये तो सारे शरीर में प्राण की गति स्वच्छन्द हो जाती है।

इसलिए प्राणायाम के द्वारा प्राणों को रोकने का अभ्यास किया जाता है। प्राण तत्व हमारे जीवन को संचालित एवं नियंत्रित करता है। यह मनुष्य के अन्दर प्रचुर पर्याप्त परिणाम में विद्यमान है। यह बहुमूल्य खजाना प्रसुप्त अवस्था में पड़ा रहता है। यदि इस प्राण गति के तत्व को जानकर भली–भांति स्वस्थ होकर सच्चिदानन्दघन परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

प्राण निरोध –

प्राण की शक्ति के निरूद्ध हो जाने पर अवश्य ही मन विलीन हो जाता है। चित्त की यह शान्त अवस्था ही 'ब्रह्म' है, जो उससे भिन्न है। शरीर में यह स्पन्दशक्ति प्राणों के माध्यम से कार्य करती है जिससे मन सक्रिय होता है। प्राणों की गति के निरोध से मन शान्त हो जाता है तथा मन के शान्त होने से प्राणों की गति रूक जाती है। दोनों में से एक के साधने पर दोनों सिद्ध हो जाते हैं एवं दोनों के निरोध होने से चित्त अपनी शान्त अवस्था में स्थित हो जाता है। इसी से मनुष्य को उस परम तत्व ब्रह्म की अनुभूति होती है।

चित्त निरूपण –

योगवासिष्ठ में कहा गया है कि मन के संकल्प का अभाव हो जाने पर यह संसार विलीन हो जाता है। जैसे– पंखे की गति रूक जाने पर हवा की गति रूक जाती है वैसे ही प्राणों की गति के रूक जाने पर मन शान्त हो जाता है। प्राण के निरोधा करने से अवश्य ही मन शान्त हो जाता है। वशिष्ठ जी राम जी से कहते हैं कि प्राणशक्ति के निरूद्ध हो जाने पर अवश्य ही मन शान्त हो जाता है। इस प्रकार कह सकते हैं कि प्राण को वश में कर लेने पर प्रत्येक मनुष्य राज्य प्राप्ति से लेकर मोक्ष प्राप्ति तक सब ही प्रकार की सम्पत्तियों को प्राप्त कर सकता है।

निष्कर्ष –

योगवासिष्ठ भारतीय योग एवं दार्शनिक परम्परा का ऐसा अद्वितीय ग्रन्थ है, जिसमें ज्ञानयोग के सिद्धांत और साधना का विस्तृत स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ में जीव, जगत और ब्रह्म की दार्शनिक व्याख्या करते हुये यह स्पष्ट किया गया है कि अज्ञान ही बन्धन का कारण और आत्मज्ञान की मोक्ष का एक मात्र उपाय है। दार्शनिक दृष्टि से योगवासिष्ठ अद्वैत वेदान्त की भावना का प्रतिपादन करता है, जहाँ आत्मा और ब्रह्म की अभिन्नता को सर्वोच्च सत्य माना गया है। यौगिक साधनाओं की दृष्टि से इसमें विवेक, वैराग्य शम, दमादि षट्सम्पत्ति, ध्यान, समाधि और मनोनिग्रह जैसी साधनाएं ही ज्ञानयोग की प्रमुख आधार हैं।

इस शोध अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि ज्ञानयोग मात्र सैद्धान्तिक चिन्तन तक सामित नहीं है, अपितु वह व्यावहारिक जीवन में अत्यन्त उपयोगी है। आधुनिक समय में मानसिक रोगों से ग्रस्त मानव तनाव, चिन्ता, अवसाद जैसी समस्याओं से ग्रसित है जिनके समाधान में यह साधनाएं अत्यंत प्रासंगिक एवं प्रभावी सिद्ध हो सकती है। अतः निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि योगवासिष्ठ में वर्णित ज्ञानयोग दार्शनिक गहरायी और योग परक साधना का अद्वितीय समन्वय है, जो न केवल आत्मबोध और मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करता है बल्कि समकालीन जीवन में शान्ति, संतुलन, समरसता और आत्मिक उन्नति के लिये भी मार्गदर्शक सिद्ध होता है।

संदर्भ सूची –

1. विवेकानन्द साहित्य, पृष्ठ खण्ड, पृ0 249.
2. सरस्वती, स्वामी निरंजनानन्द – योगदर्शन, पृ0 72.
3. सरस्वती, स्वामी सत्यानन्द – तन्त्र क्रिया और योग विद्या, पृ0 707.
4. विवेकानन्द साहित्य, पृष्ठ खण्ड, पृ0 249.
5. 'कल्याण' संक्षिप्त योगवासिष्ठ अंक (35वें वर्ष का विशेषांक), पृ0 287.
6. सरस्वती, स्वामी शिवानन्द – मन, रहस्य और निग्रह, पृ0 255.

7. 'कल्याण' संक्षिप्त योगवासिष्ठ अंक (35वें वर्ष का विशेषांक), पृ0 287.
8. दशोरा, नन्दलाल – योगवासिष्ठ महारामायण, पृ0 274.
9. सरस्वती, स्वामी शिवानन्द – मन, रहस्य और निग्रह, पृ0 255.
10. श्रीमद्भगवद्गीता 4/19–24.
11. सिन्हा, प्रो0 हरेन्द्र प्रसाद – भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ0 69.
12. श्रीमद्भगवद्गीता 4/36.
13. 'कल्याण' संक्षिप्त योगवासिष्ठ अंक (35वें वर्ष का विशेषांक), पृ0 295.
14. श्रीमद्भगवद्गीता 5/16.
15- Valmiki. (n.d.). *Yogavāsiṣṭha Mahārāmāyaṇa* [Sanskrit text].
16- Vasiṣṭha. (n.d.). *Yogavāsiṣṭha Sāra Saṅgraha* [Sanskrit text].
17- Śaṅkarācārya. (n.d.). *Commentaries on the Upaniṣads and Vedānta Darśana*.
18- Vyāsa. (n.d.). *Bhagavad Gītā* (with various commentaries).
19- Patañjali. (n.d.). *Yoga Sūtras of Patañjali* (with bhāṣya).
20- Dasgupta, S. N. (1932). *A History of Indian Philosophy* (Vol. 2). Cambridge University Press.
21- Hiriyanna, M. (1993). *Outlines of Indian Philosophy*. London: Allen & Unwin.
22- Radhakrishnan, S. (1953). *Indian Philosophy* (Vols. 1–2). Oxford University Press.
23- Raghavan, V. (1950). *The Yogavāsiṣṭha and Indian Philosophy*. Madras University Press.
24- Venkatesananda, S. (1984). *The Concise Yoga Vasistha*. State University of New York Press.